1938G Satisfaction or Purity of Thought

In *Jain Sandesh* September 1938

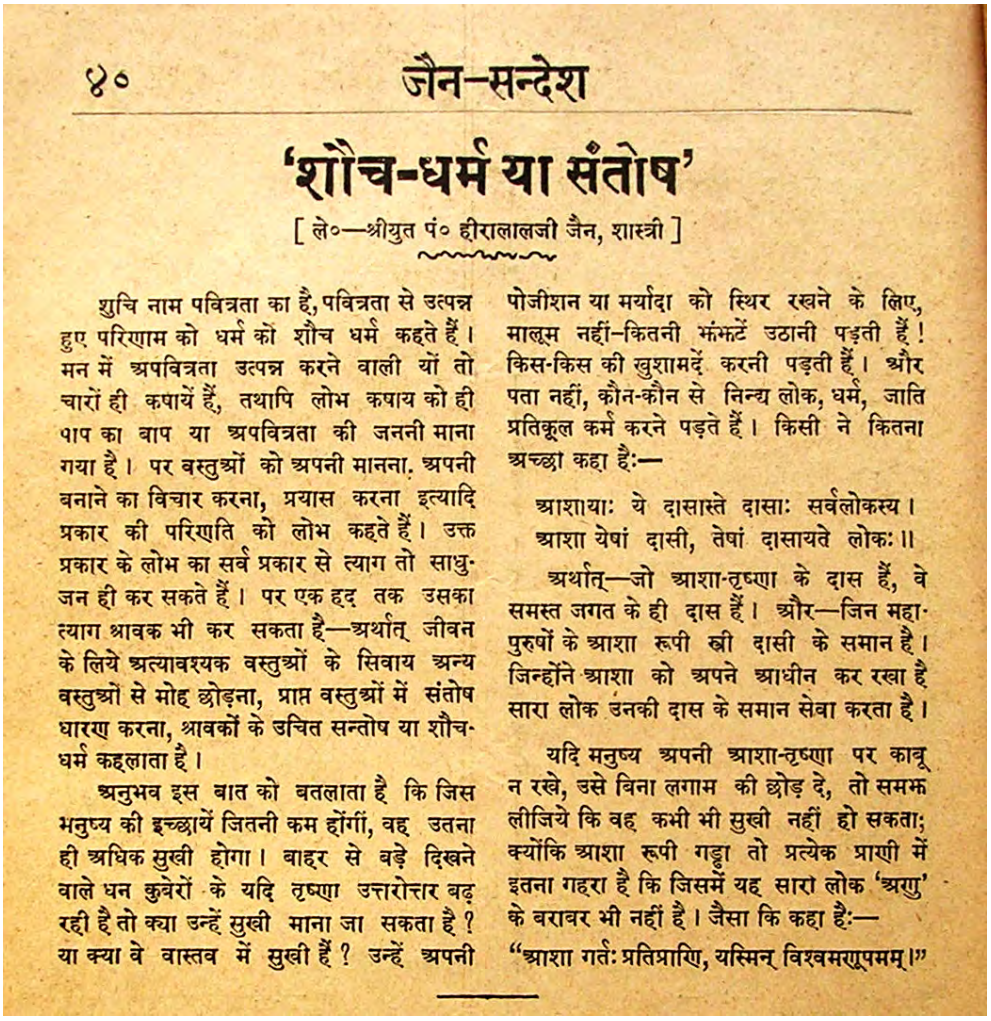

'शौच-धर्म या संतोष'

[ले०—श्रीयुत पं० हीरालालजी जैन, शास्त्री]

शुचि नाम पवित्रता का है, पवित्रता से उत्पन्न हुए परिणाम को धर्म को शौच धर्म कहते हैं। मन में अपवित्रता उत्पन्न करने वाली यों तो चारों ही कषायें हैं, तथापि लोभ कषाय को ही पाप का बाप या अपवित्रता की जननी माना गया है। पर वस्तुओं को अपनी मानना, अपनी बनाने का विचार करना, प्रयास करना इत्यादि प्रकार की परिणति को लोभ कहते हैं। उक्त प्रकार के लोभ का सर्व प्रकार से त्याग तो साधु-जन ही कर सकते हैं। पर एक हद तक उसका त्याग श्रावक भी कर सकता है—अर्थात् जीवन के लिये अत्यावश्यक वस्तुओं के सिवाय अन्य वस्तुओं से मोह छोड़ना, प्राप्त वस्तुओं में संतोष धारण करना, श्रावकों के उचित सन्तोष या शौच-धर्म कहलाता है।

अनुभव इस बात को बतलाता है कि जिस मनुष्य की इच्छायें जितनी कम होंगीं, वह उतना ही अधिक सुखी होगा। बाहर से बड़े दिखने वाले धन कुबेरों के यदि तृष्णा उत्तरोत्तर बढ़ रही है तो क्या उन्हें सुखी माना जा सकता है? या क्या वे वास्तव में सुखी हैं? उन्हें अपनी पोजीशन या मर्यादा को स्थिर रखने के लिए, मालूम नहीं-कितनी झंझटें उठानी पड़ती हैं! किस-किस की खुशामदें करनी पड़ती हैं। और पता नहीं, कौन-कौन से निन्द्य लोक, धर्म, जाति प्रतिकूल कर्म करने पड़ते हैं। किसी ने कितना अच्छा कहा है:—

आशायाः ये दासास्ते दासाः सर्वलोकस्य।
आशा येषां दासी, तेषां दासायते लोकः॥

अर्थात्—जो आशा-तृष्णा के दास हैं, वे समस्त जगत के ही दास हैं। और—जिन महा-पुरुषों के आशा रूपी स्त्री दासी के समान है। जिन्होंने आशा को अपने आधीन कर रखा है सारा लोक उनकी दास के समान सेवा करता है।

यदि मनुष्य अपनी आशा-तृष्णा पर काबू न रखे, उसे बिना लगाम की छोड़ दे, तो समझ लीजिये कि वह कभी भी सुखी नहीं हो सकता; क्योंकि आशा रूपी गड्ढा तो प्रत्येक प्राणी में इतना गहरा है कि जिसमें यह सारा लोक 'अणु' के बराबर भी नहीं है। जैसा कि कहा है:—

"आशा गर्तः प्रतिप्राणि, यस्मिन् विश्वमणूपमम्।"